

2.1. धर्म की परिभाषाएँ

मनुष्य ने जब से समाज के रूप में संगठित होकर रहना प्रारम्भ किया है और बौद्धिक विकास के परिणामस्वरूप पारस्परिक सहयोग व सामञ्जस्य को विकसित किया है, तभी से धर्म समाजशास्त्र के अध्ययन का केन्द्र रहा है, क्योंकि धर्म का सम्बन्ध मानव जीवन के व्यवहार के साथ ही नहीं है वरन् यह मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समाज की प्रत्येक क्रिया में सभ्यता व संस्कृति के प्रत्येक स्पन्दन एवं भावना में प्रस्फुटित होता है। इसी कारण यह समाजशास्त्र के अध्ययन का आधारभूत तत्त्व है।

धर्म का उद्भव एवं विकास

धर्म विषयक चर्चा करने पर यह जानने की तीव्र उत्कण्ठा होती है कि धर्म का प्रादुर्भाव कब, कैसे और किन परिस्थितियों में हुआ होगा? परन्तु इस विषय में केवल अनुमान ही किया जा सकता है, निश्चित रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।

प्रारम्भिक काल में धर्म उन प्राकृतिक घटनाओं से उद्बुद्ध हुआ था, जो सृष्टि के गूढ़ रहस्य के रूप में संसार में घटित होती रहती थीं तथा मनुष्य को विस्मित और भयभीत करती थीं, जैसे - बिजली का चमकना, झंझावत व तूफान, बादलों का गरजना, भू-स्खलन व कंपन, दावानल व वाडवानल आदि। ये सभी घटनाएँ प्रकृति के भयावह रूप को मनुष्य के समक्ष प्रकट करती थीं तथा यदा-कदा ही संसार में घटा करती थीं। इसके ठीक विपरीत वह इसके सौम्य रूप के दर्शन भी नित्य करता था, यथा- पक्षियों का मधुर कलरव, पृथ्वी से अंकुरों का स्फुटन, ऋतुओं का परिवर्तन, नदियों का प्रवाह, सुगन्धित व शीतल वायु का स्पर्श आदि। इस प्रकार मनुष्य प्रकृति के इन दोनों रूपों - रौद्र व सौम्य से प्रभावित था और इन दोनों ही प्रकार ने भयाकुल होकर उसको शांत कर अपने अनुकूल बनाने के उद्देश्य से की जा समर्पित होकर की। कालान्तर में यही उपासना पद्धति शनैः-शनैः विकसित, व्यवस्थित व जटिल हो गई और इसके साथ समाजानुसार कुछ विश्वास जुड़ गए।

आधुनिक सामजशास्त्री और मानवशास्त्री भी धर्म के विकास के विकास के मूल में आदिम मानव की भय और असुरक्षा जन्य कल्पना, उपासना पद्धति, विश्वासों और कर्मकाण्डों का हाथ मानते हैं। उनके अनुसार आखेट और खाद्य संकलन की अवस्था में मनुष्य का जीवन अनिश्चितताओं से भरा था-शिकार मिलेगा या नहीं? खाद्य संकलन हो पाएगा अथवा नहीं? वर्षा, बाढ़, आँधी तूफान का भी उसे सामना करना पड़ता था, स्वप्न-बीमारी-मृत्यु उसके लिए रहस्यमय थे और वह कार्यकारण के आधुनिक सिद्धान्त से भी अपरिचित था। अतः इस अवस्था में उसने अज्ञात को समझने की चेष्टा में शकुन, अपशकुन आदि विश्वास विकसित किए। इन विश्वासों के विकसित होने की दो स्थितियाँ थीं-

इनमें प्रथम स्थिति तो वह थी, जिसमें आदिम मानव ने अपने देखने, सुनने व समझने की क्षमता के आधार पर मनुष्य के जानवर, प्रकृति व अन्य प्राणियों के प्रति व्यवहार की व्याख्या की तथा दूसरी स्थिति वह थी—जिसको जानने, समझने में वह असमर्थ था तथा अपनी देखने, सुनने व समझने की शक्ति द्वारा जिसकी व्याख्या नहीं कर सकता था। जो प्रायः अनिश्चितता व असुरक्षा के वातावरण से पूर्ण थीं; जैसे- मृत्यु, इस प्रकार उपरोक्त विवरणानुसार हम देखते हैं कि मानव चेतना के महामारी आदि।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण के अनुसार हम देखते हैं कि मानव चेतना के विकास के आरंभिक चरण में मानव व प्रकृति के पारस्परिक संबंध अथवा व्यवहार की व्याख्या के परिणामस्वरूप 'धर्म' की संकल्पना का प्रादुर्भाव हुआ। यह धर्म शुरूआत में बहुत ही सरल व सहज था तथा मानव की अन्तः प्रेरणा से अनुप्राणित था अथवा उसके आन्तरिक भावों का रूपान्तरण था। उस समय जो महत्त्वपूर्ण तत्त्व धर्म को दृढ़ता प्रदान करते थे, वे 'ऋत' व 'सत्य' थे, जिनका उल्लेख वैदिक वाङ्मय में पग-पग पर मिलता है।

2.2. वैदिक साहित्य में ऋत एवं सत्य

ऋत : वैदिक साहित्य में ऋत शब्द का प्रयोग सृष्टि के सर्वमान्य

नियम के लिए हुआ है। प्रकृति के सभी कार्य सर्वव्यापी नियम के अनुसार ही होते हैं, जिससे समस्त चराचर जगत परिचालित होता है। संसार के सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं, किन्तु सृष्टि के नियम अपरिवर्तनशील हैं। इन शाश्वत नियमों को ही ऋत कहते हैं और इन्हीं से सूर्य-चन्द्र आदि ग्रह गतिशील हैं। संसार में जो कुछ भी है वह ऋत संबंधी है। ऋत सबका मूल कारण है। दूसरे शब्दों में ऋत से अभिप्राय- उस प्राकृतिक नियम अथवा प्राकृतिक व्यवस्था से है, जो अनुल्लंघनीय है। ऋग्वेद में अनेकत्र इसका उल्लेख हुआ है, यथा- ऋग्वेद में मरुद् गण को ऋत से उद्भूत माना गया है। विष्णु को ऋत का गर्भ माना जाता है। द्यौ और पृथ्वी ऋत से ही स्थित है। उषा और सूर्य को ऋत का पालन करने वाला कहा गया है। देवताओं से प्रार्थना की जाती है कि वे हमें ऋत के मार्ग पर ले चलें तथा अनृत से दूर रखें। वरुण को ऋत का जनक व रक्षक माना गया है।

ऋत की महिमा बताते हुए ऋग्वेद में उद्धृत है कि ऋत का कर्ता किसी से नहीं दबता, क्योंकि वह हृदय में तीन पवित्र विचारों को धारण करता है। वह ऋत ज्ञाता सम्पूर्ण भुवनों को अपने समक्ष रखता है, देखता है, विरोधियों को बीध देता है और अब्रतो (दुष्टों) को दण्डित करता है-

ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुस्त्रीष पवित्र हृघन्तरा दधे।

विद्वान्त्स विश्वाभुवनापि पश्यत्यवाजुष्टान् विध्यति कर्ते अब्रतान्॥

अन्य स्थल पर परमात्मा की सृष्टि रचना के क्रम में भी ऋत का उल्लेख हुआ है, उसे भी परमात्मा से उत्पन्न बताया गया है-

प्रो० घाटे ने ऋत के तीन अर्थ बताए हैं, जो एक ही विचार के सूचक

"ऋतुं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

ततो राज्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥

इनके अनुसार सर्वप्रथम ऋत ब्रह्माण्ड नियम का द्योतक है। वह जगत् तथा प्रकृति का शासक है। सूर्य का उदय तथा अस्त, उषः काल का आगमन आदि सभी प्राकृतिक दृश्यों के नियमित प्रत्यावर्तन को ऋत ही नियन्त्रित करता है। देवताओं को भी ऋत से उत्पन्न, ऋत का पालक एवं ऋत का प्रेमी कहा गया है।

इसके बाद ऋत का अर्थ हो गया - देवपूजा या यज्ञ के धर्म की नियमितता एवं त्रुटिहीनता। वह एक ऐसा नियम है, जो यज्ञ के विभिन्न भागों - जैसे देवताओं के आगमन, आहुति अर्पण आदि का नियन्त्रण करता है। इस प्रकार इन्द्रजाल (जादू) की विधियों तथा अभिचार (टोने) के कार्यों को जहाँ 'अनृत' कहा जा सकता है, वहाँ इसके सर्वथा विपरीत यज्ञों को 'ऋत से सञ्चालित' माना गया है।

अन्त में ऋत का तीसरा रूप आता है, जिसका अधिकार मानव के नैतिक चरित्र पर स्थित है। ऋत नैतिक नियम है, जिसका प्रत्येक सदाचारी पुरुष को पालन करना चाहिए और वरुण का यह प्रमुख कर्तव्य है कि वह ऋत के पालन का निरीक्षण करे। इस प्रकार ऋत का अर्थ सत्य और अनृत का अर्थ असत्य होगा।

इस प्रकार प्रो० घाटे के ऋत से सम्बद्ध ये तीनों अर्थ ऋत के व्यापक क्षेत्र को इंगित करते हैं, किन्तु वेद में कई मन्त्रों में ऋत व सत्य एक साथ ही प्रयुक्त हुए हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि उस काल में ये दोनों पृथक्-पृथक् रूप में ही ग्राह्य थे तथा इनमें सूक्ष्म

सत्य : ऋत के समान सत्य भी वेद की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। सत्य का उपदेश बार-बार दिया गया है। जो वस्तु जैसी है उसको वैसी मानना, जानना, बोलना और तदनुसार कार्य करना सत्य है। यजुर्वेद में कहा गया है कि सत्य का मुख चमकीले पात्र से ढका हुआ है। वेद के अनुसार पूर्वकाल में इसे ज्ञानी ही प्रकाशित करते थे। धर्म के लक्षणों में भी सत्य को उसका एक अङ्ग माना गया है। पृथ्वी के धारक तत्त्वों में सत्य भी एक है, जिसके आश्रय से पृथ्वी टिकी हुई है। मुण्डकोपनिषद् में सत्य की विजय का उद्घोष किया गया है तथा तैत्तिरीयोपनिषद् में स्नातक को सत्य पालन की शिक्षा दी गई है। आचार्य मनु ने भी घोषणा की है कि सत्य परम धर्म है।

अतः ये दोनों तत्त्व धर्म के मूलाधार थे, परन्तु कालान्तर में जैसे समय व्यतीत होता गया, मानव सभ्यता स्थिर व विकसित होती गई, मानव समाज की कार्य-प्रणाली में व्यवस्था व जटिलता आ गई और उसके धर्म सम्बन्धी विचारों में भी परिवर्तन आया। अब धर्म की त्रिविध व्याख्या की जाने लगी - आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक।

आध्यात्मिक : इसके अन्तर्गत जगत् की उत्पत्ति, उसकी संचालक शक्ति, ईश्वर, आत्मा, परमात्मा, मृत्यु, मोक्ष आदि सभी अवधारणाओं को समाविष्ट किया जाता है, जो मानव बुद्धि की समझ से परे हैं तथा अनादि काल से ही मनुष्य के लिए एक पहली हैं। जिन्हें जानने के लिए वह सदैव प्रयत्नशील रहता है। मनुष्य के समक्ष यक्ष प्रश्न की भाँति उपस्थित इन सभी जिज्ञासाओं ने मानवीय कल्पनाओं की वैचारिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया, जिससे कालान्तर में विभिन्न दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। जिनमें तर्क व प्रयोग के आधार पर आत्म-विषयक चिन्तन किया और अपने-अपने ढंग से आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, मृत्यु, पुनर्जन्म आदि को व्याख्यायित किया, जो धर्म के क्षेत्र का महत्वपूर्ण पक्ष है।

आधिदैविक : जब धर्म के आधिदैविक पक्ष पर विचार किया जाता है, तो इसमें दिव्य गुणों से युक्त उन प्राकृतिक शक्तियों को सम्मिलित कर लिया जाता है, जो कभी मनुष्य को आह्लादित व प्रेरित करती हैं, तो कभी भयाक्रान्त करती हैं, जो उसके लिए महत्वपूर्ण होती हैं तथा जिनका वह नित्य अनुभव भी करता है। उनके प्रति उसमें आस्था व विश्वास होता है, परन्तु उन पर उसका नियन्त्रण नहीं होता। उन सभी शक्तियों को मानवीय कल्पनाओं ने इन्द्र, विष्णु, सूर्य, सविता, अग्नि, वरुण आदि विभिन्न देवी-तो कहीं निश्चित नियम, व्यवस्था या सिद्धान्त के लिए इसका प्रयोग अनुष्ठान पारलौकिक अभीष्ट सिद्धि की भावना जुड़ी हुई हैं। देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित किया है और उनके निमित्त विशिष्ट पद्धति, प्रार्थना, स्तुति आदि धार्मिक विधियाँ विकसित की। धर्म के इस आधिदैविक स्वरूप के साथ मनुष्य की लौकिक व पारलौकिक अभीष्ट सिद्धि की भावना जुड़ी हुई है।

आधिभौतिक: उसका संबंध मनुष्य के भौतिक क्रिया व्यापार से है। धर्म की अधिभौतिक व्याख्या क्षेत्र में उन क्रियाओं, आचार पद्धतियों व मान्यताओं को परिगणित किया जा सकता है, जिसका पालन प्रत्येक स्वेच्छाचारी व पाशविक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगा उसको सभ्य बनाती है और जीने का ढंग सीखाती हैं। उसकी लोकयात्रा के सफल संचालन में सहायक होती है तथा मनुष्य में अनुशासन, उदात्त गुणों व जनभावना को जागृत करती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धर्म का संबंध मनुष्य के विचारों के साथ-साथ उसके कर्मों से भी है। इसी कारण भारतीय मनीषियों ने धर्म को विशेष महत्व दिया है तथा उसकी विस्तृत चर्चा संस्कृत ग्रन्थों में धर्म क्या है? उसका क्या अर्थ है? क्या स्वरूप है? आदि का प्रतिपादन किया है।

धर्म की परिभाषाएँ

धर्म शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है, परन्तु वहाँ

उसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। कुछ ऋचाओं में यह प्रथम अथवा प्राचीन विधियों का द्योतक है, यथा-

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।" (ऋ०

10.90.16)

"प्रथमा धर्माः" (ऋ० 3.19.1,10.56.3)

"सनता धर्माणि" (ऋ० 3.3.1)

तो कहीं निश्चित नियम, व्यवस्था या सिद्धांत के लिए इसका प्रयोग हुआ। जैसे-
हुआ

"आ प्रा रजासि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे।"

(ऋ० 5.43.3)

"धर्मणा मित्रायरूणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।" (ऋ०

5.63.7)

"द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कथिते अजरे भूरि रेतसा।" (ऋ०

6.70.2)

"अचित्तो यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः।" (ऋ०

7.89.5)

इसी उपर्युक्त अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग वाजसनेयि संहिता में भी
मिलता है- (2.31, 5.29)

ऋत सत्यं तपो राष्ट्र धर्मो धर्मश्च कर्म च। भूतं भविष्यपुच्छिष्टे वीर्यं
लक्ष्मीर्बलजते।

1. अथर्ववेद (9.9.17) में इसका प्रयोग "धार्मिक क्रिया संस्कार

करने से अर्जित गुण" के अर्थ में हुआ है।

2. ऐतरेय-ब्राह्मण में यह "सकल धार्मिक कर्तव्यों" के अर्थ में

प्रयुक्त हुआ है।

3. छान्दोग्योपनिषद् में इस शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग

मिलता है, जहाँ धर्म की तीन शाखाएँ मानी गयी है

(1) यज्ञ, अध्ययन एवं दान अर्थात् गृहस्थ धर्म;

(2) तपस्या अर्थात् तापस धर्म;

(3) ब्रह्मचारित्व अर्थात् आचार्य के गृह में अन्त तक रहना।

यहाँ धर्म शब्द आश्रमों के विलक्षण कर्तव्यों की ओर संकेत कर रहा है, जो प्राचीन समय में समाज के संचालन की साधनभूत व्यवस्था थी।

मनुस्मृतिकार ने धर्म के पाँच स्वरूप माने हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म शब्द का अर्थ समय-समय पर परिवर्तित होता रहा किन्तु अंत में यह मानव के विशेषाधिकार व कर्तव्यों का द्योतक तथा आर्य जाति के सदस्य की आचार विधि का परिचायक और वर्णाश्रम के नियमों का वाचक हो गया जो धर्मशास्त्रों या स्मृतिशास्त्रों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है।

2.3. धारणात्मक शक्ति के रूप में धर्म

धर्म शब्द धृ धारणे पूर्वक मनिन् प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- ध्रियते अनेनेति धर्म अर्थात् जिसे धारण किया जाए अथवा धारणाद् धर्मेत्याहु अर्थात् धारण करने से धर्म कहते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि धारण किसे किया जाए? क्या धर्म से अभीप्राय किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थान, समूह, संस्था, कर्म, आचार आदि है। इसका उत्तर धर्मशास्त्रों में दिया गया है। स्मृतियों में धर्म का क्षेत्र अन्यत व्यापक है। इनमें न केवल मनुष्य के आचरण, अन्तः कारण की शुद्धि व सुख समृद्धि और जीवन-वृत्ति से सम्बद्ध है, वरन् समाज व्यवस्था के संचालन व नियमन में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका का उल्लेख भी इन ग्रंथों में प्राप्त होता है। अतः धर्मशास्त्रों में धर्म की दृष्टि से वह आचारसंहिता है, जिसमें वर्णधर्म, आश्रम धर्म, वर्णाश्रम धर्म, गुणधर्म, नैमित्तिक धर्म, सामान्य धर्म, आपद् धर्म आदि का विस्तृत विवेचन हुआ है।

अतः धर्मशास्त्र में धर्म के अंतर्गत वह आचार संहिता निरूपित हुई है, जो मनुष्य के कर्मों व कृत्यों को व्यवस्थित करती है और उसे मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुंचने के योग्य बनाती है। इसी से संबंध समग्र उपादेय नियमावली का संयोजन ऋषियों द्वारा स्मृतियों या धर्मशास्त्रों में किया गया है। यह समाज के सुचारू संचालन व उसमें व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से पथ प्रदर्शक व प्रासंगिक है।

साधारण मनुष्य को धर्म का किस प्रकार हो, इस विषय में मनुस्मृति में धर्म (प्रमाणों) का निरूपण मिलता है-

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।

आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ 2/6

इस प्रकार आचार्य मनु ने धर्म के प्रमाणों के रूप में सम्पूर्ण वेदों, वेद ज्ञाताओं की स्मृति और शील, साधुओं अर्थात् राग द्वेष से सज्जनों का आचरण और मन की प्रसन्नता (आत्मसंतुष्टि) को स्वीकार किया है।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं अर्थात् वेद धर्म के मूल हैं। वेद से अभीप्राय यहाँ ऋग् - यजु - साम अयादि से है न कि महाभारत, इतिहास, पुराणआदि, जिनके लिए वेद शब्द से व्यवहार देखने को मिलता है, यथा- "इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेद इति" यहाँ वेद अपौरुषेय शब्दराशि से युक्त तथा ब्राह्मणादि से भिन्न ऋगादि है। ये चारों वेद धर्म के मूल प्रमाण हैं। वेद के पाँच विभाग-विधि, मन्त्र, नामधेय, अर्थवाद और निषेध हैं। ये सभी वेदवाक्य धर्म प्रवर्तक हैं। "विधि पद का विधान करती है। 'अर्थवाद' की भी वेदावाक्यों व विधिवाक्यों से एकरूपता होने से अर्थात् विधेय के सम्पादनार्थ-प्रेरक होने से धर्म में प्रमाणिकता है। प्रयोग काल में अनुष्ठान व स्मरण होने के कारण 'मन्त्र व अर्थवादों की विधिवाक्यों से एकवाक्यता होने से ही धर्म में प्रमाणिकता है। 'नामधेय विधेय का बोध कराते हैं और निषेध मनुष्य को अनिष्ट क्रिया से निवृत्त कराते हैं। अतः वेद की धर्म में प्रमाणिकता यथार्थ अनुभव का साधन होने के कारण स्वाभाविक रूप से सिद्ध है।

2.4 धर्म के विविध उपादान

वेद धर्म के निरपेक्ष प्रमाण हैं। वह किसी प्रमाणान्तरा की अपेक्षा नहीं रखते। अतः स्वतः प्रमाण है। यह अपौरुषेय हैं और मानवमात्र के कल्याणपरक वचनों का प्रतिपादन करते हैं तथा सभी प्रकार के ज्ञान से पूर्ण हैं। कोई भी विषय इनसे अछूता नहीं है। मनु ने स्वयं कहा है

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तपस्यन्दिजोतमः।

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।।

स्मृतिशीले च तद्विदाम् अर्थात् उन वेद को जानने वालों की स्मृति और शील भी धर्म के लिए प्रमाण है। स्मृतियों को भी धर्म के प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है, किन्तु केवल तभी जब वे वेदमूलक हों अर्थात् वेदों को जानने वाले मनु आदि आचार्यों की स्मृतियों का ही धर्म में प्रामाण्य है, अन्य का (वेद विपरीत का) नहीं।

"अनुभूतार्थविषयं विज्ञानं स्मृतिरूच्यते" अर्थात् अनुभव किए गए

विषय के ज्ञान को स्मृति कहते हैं। जिन मनु आदि आचार्यों ने शब्दप्रमाण स्वरूप वेदों को स्मरण कर उनका अनुभव (स्वयं) किया है, उन आचार्यों के द्वारा कहे गए वाक्य-समूह, जो स्मृति परम्परा से प्राप्त हैं, उनकी धर्म के रूप में प्रामाणिकता कही गई है। वेदविद्वान् इस प्रकार कहने से अर्थात् विशेषण होने के कारण वेदमूलक होने से ही स्मृतियों को धर्म के लिए प्रमाण माना गया है, अन्यथा नहीं।

शील से अभिप्राय ब्रह्मण्यतादि से है। हारीत के अनुसार ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्ति, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनुसूयता, मृदुता, अपारुष्यता, मैत्रता, प्रियवादिता, कृतज्ञता, शरण्यता, करुणता, प्रशान्ति आदि 13 प्रकार के शील माने गए हैं।

स्मृतिग्रन्थ तथा उनके कर्ता और उनका शील सभी धर्म में प्रमाण हैं, जब वे धर्मानुकूल आचरण करते हैं। स्मृतिग्रन्थ पुरुषकृत हैं, अतः पुरुष का रागद्वेष से प्रभावित होना स्वाभाविक है और तदनुकूल ही उनका आचरण व व्यवहार भी अवश्य प्रभावित होता है। अतः यहाँ धर्म प्रमाणों में "स्मृति शील च" को द्वितीय स्थान पर रखा गया है तथा 'तद्विदाम्' - यह विशेषण प्रयुक्त कर उसका योग स्मृति व शील दोनों के साथ किया गया है। जो इस अर्थ को घोषित करता है कि-स्मृति व शील भी वेदमूलक होने पर ही प्रमाण रूप में ग्राह्य होंगे अन्यथा नहीं।

स्मृतिकारों ने जनसाधारण के निमित्त परिवर्तित परिस्थितियों में आचरित व मान्य परम्पराओं व लोकव्यवहारों का प्रभावशाली और सरल शब्दों में नियमपूर्वक क्रमबद्ध वर्णन किया है। अतः इनमें उक्त धर्म वेदमूलक होने से ही आचरणीय है। यदि वह वेद के विपरीत होंगे तो ऐसे स्मृतिकारों की स्मृति शील ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। मनुस्मृति की भी धर्म में प्रामाणिकता उसके वेदमूलक होने से ही है-

यः कश्चिद् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।।

अर्थात् मनु ने ब्राह्मणादि वर्गों के वर्ण - आश्रम - संस्कारादि धर्मों का सामान्य व विशेष रूप से जो भी विधान किया है, उन सबका आधार वेद है, क्योंकि वेद समस्त सत्यविद्याओं तथा दृष्टादृष्ट विषयों का निमित्त हैं।

आचारश्चैव साधूनां अर्थात् शिष्टों का जो आचार है, वह भी धर्म में प्रमाण रूप में स्वीकार्य है। वेदों और स्मृतियों की भाँति जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों में वास्तविक धर्म की खोज में शिष्टों का व्यवहार भी कसौटी प्रदान करता है। धर्मात्माओं को शिष्ट भी कहा जाता है। शिष्ट वे हैं जो वेदविहित कृत्यों का सम्पादन करते हैं। ऐसे शिष्टों के द्वारा वे आचरण जो परम्परा से चले

आये हैं, धर्म के रूप में ग्रहण किए गए हैं। शिष्टों अथवा साधुओं (सज्जनों) के ये आचार वहीं अथवा उन्हीं परिस्थितियों में मान्य हैं, जहाँ श्रुति और स्मृति वाक्य नहीं मिलते अर्थात् जिन विषयों के सम्बन्ध में श्रुति व स्मृतियों में कोई व्यवस्था या विधान नहीं प्राप्त होते हैं, उनमें शिष्ट व्यक्तियों द्वारा धर्म बुद्धि से प्रेरित होकर जिस प्रकार अनुष्ठान या व्यवहार किया जाता, वह भी वैदिक व्यवस्था के समान ही ग्राह्य है। इसमें कोई आपत्ति नहीं है। आचार्य मनु ने भी ऐसे सज्जनों के द्वारा अनुष्ठित व अनुमोदित धर्म को जानने के लिए कहा है-

विद्वद्धिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।

हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।।

अर्थात् विद्वानों और रागद्वेष से शून्य सज्जनों के द्वारा सेवित और

हृदय से अच्छी तरह से जाना गया जो धर्म है, उसे जानो। महाभारत में भी सज्जनों के आचरण को धर्म में पथप्रदर्शक स्वीकार किया है-

तर्कोप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महात्मनो येन गतः स पन्थाः।।

स्मृति चन्द्रिका का मत है कि धार्मिक मनुष्यों द्वारा चलाई गई परम्परा भी वेदों की भाँति ही प्रामाणिक है- "समयश्चापि साधूनां प्रमाणं वेदवत् भवेत्।" आपस्तम्बधर्मसूत्र भी धर्मज्ञों द्वारा चलाई गई परम्पराओं को प्रमाण मानते हैं- धर्मज्ञ समयः प्रमाणं।

वेद अत्यन्त कठिन व दुरुह हैं। सभी का उनमें अधिकार नहीं है और

न ही वेदों में धर्म क्रमबद्ध व सुव्यवस्थित रूप में उपलब्ध होता है। वेदों

की अनेक शाखाएँ हैं तथा अध्ययन व अनुष्ठान पद्धति में भी भेद है। अतः साधारण जनों को ज्ञान प्रदान करने व धर्म के अवबोधनार्थ शिष्टों के आचरण को प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है।

आत्मनस्तुष्टिरेव च अर्थात् आत्मा (मन) की संतुष्टि। श्रेष्ठ व्यक्तियों के व्यवहार के साथ अच्छे अन्तःकरण को भी धर्म का स्रोत स्वीकार किया गया है। मनु वह कार्य करने को कहते हैं, जिससे आत्मा को सन्तुष्टि हो। वेदविद् साधुओं के आचरण की भाँति इसका भी धर्म में प्रामाण्य कहा गया है। यहाँ आत्मतुष्टि का वेदविद् साधुओं से सम्बन्ध है न कि प्रत्येक मनुष्य की स्वयं अपनी आत्मतुष्टि के लिए यह पद प्रयुक्त हुआ है। ऐसे सज्जनों का मन जब 'किसी कार्य या व्यवस्था के सम्बन्ध में इस प्रकार अनुष्ठान करना चाहिए' इस तरह प्रसन्न होता है, उनके मन में किसी प्रकार का द्वेष नहीं होता तो वह धर्म है। ऐसे लोगों का हृदय यदि प्रतिषिद्ध कार्य से भी प्रसन्न होता है, तो वह कार्य भी धर्म कहलाता है। किन्तु यदि विहित कार्य को करने पर भी उनके मन में असमञ्जस की स्थिति बनी रहती है, तो वह विहित कार्य भी धर्म नहीं है अर्थात् विहित या अविहित कार्य को करने पर यदि वेदज्ञ सज्जनों का मन प्रसन्न होता है, रागद्वेष आदि निकृष्ट भावों से कुण्ठित या शंकित नहीं होता, तो उनके द्वारा अनुष्ठित अधर्म भी धर्म हो जाता है तथा इसके विपरीत स्थिति में धर्म भी अधर्म हो जाता है। अतः धर्म के अनुष्ठान में मन की प्रसन्नता भी अनिवार्य है। यहाँ धर्म प्रमाण में वेदज्ञ साधु की आत्मतुष्टि ही ग्राह्य है, क्योंकि ऐसे शिष्ट व्यक्ति का अन्तःकरण निर्मल व परमात्म चिन्तन में रत होता है और वह साधु जिस भी कार्य में प्रवृत्त होता है, वह सदैव लोक कल्याण के लिए ही होता है, न कि स्व अभीष्ट की सिद्धि उसका लक्ष्य होती है। अतः इसका भी धर्म में प्रामाण्य है। इस प्रकार वेद, स्मृति, सदाचार और मन की प्रसन्नता ये चार साक्षाद् धर्म के लक्षण हैं -वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियात्मनः।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।

(मनु० २.12)

यही भाव याज्ञवल्क्य ने भी व्यक्त किए हैं-

तु श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियात्मनः।

सम्यक्सकलपजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।

(याज्ञ० 1.7)

मनुस्मृति में स्पष्ट कहा गया है कि वेद और स्मृतियों में कहे गए धर्म का अनुष्ठान करने पर मनुष्य इस संसार में यश और उत्कृष्ट सुख को प्राप्त करता है तथा मृत्योपरान्त स्वर्गादि रूप अनुत्तम सुख प्राप्त करता है।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्।। (2.9)

इन चतुर्विध प्रमाणों में वेदों को प्राथमिक प्रायः सभी विद्वानों ने माना है। तदन्तर वेदविहित स्मृतियों की प्रामाणिकता है। उसके बाद शिष्टों का आचार और अन्त में आत्मतुष्टि प्रमाण है। ये चारों क्रमशः धर्म में प्रामाणिक हैं। मनु ने वेद और स्मृति से धर्म का प्रादुर्भाव बताया है और उन्हें अतर्कव्य माना है तथा इनका अपमान करने वाले को नास्तिक और वेद निन्दक कहा है। मनु ने वेदज्ञानोचित सम्पूर्ण शास्त्र समूह को न्याय-मीमांसादि ज्ञानरूप नेत्रों से निश्चय करने पर वेदप्रमाण से अपने धर्म का अनुष्ठान करने पर बल दिया है-

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।

श्रुतिप्रमाप्यतो विद्वान्स्वधर्मं निविशेत वै।। (मनु02.8)

अर्थात् शास्त्रों को अपनी संगति (प्रसंग) को हृदयङ्गम किए बिना

आँख मींचकर अनुकरण नहीं करना चाहिए, अपितु ज्ञानपूर्वक सम्यक्तया विचार करके ही अनुष्ठान करना चाहिए और धर्म मानना चाहिए। बृहस्पति ने भी ऐसा ही कहा है-

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णयः। युक्तहीने विचारे तु धर्महानिः प्रजायते।। प्राचीन समय में धर्म के इन चतुर्विध लक्षणों (प्रमाणों) की समाज में पूर्ण प्रतिष्ठा थी। प्रायः सभी धर्मशास्त्रियों (स्मृतिकारों) ने इनका अनुमोदन किया और इनमें श्रुति य तदन्तर स्मृति को एक स्वर में धर्म के प्रमाण रूप में स्वीकार किया। इन सभी (चार) प्रमाणों से ज्ञात धर्म का परवर्ती काल में षड्विध विभाग किया गया, जो मानव जीवन की विशेष अवस्थाओं परिस्थितियों व क्षेत्र (कर्म - क्रिया क्षेत्र) से संबद्ध है।

Lecture by Ritu Mishra

Semester -3

Department of sanskrit

Shivaji college